मन्त्र योग और उसकी सर्वतोभद्र साधना

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

बृजमोहन बिड़ला शोधकेन्द्र, उज्जैन (म० प्र०)

योगविद्या भारतवर्ष की अत्यन्त प्राचीन विद्या है। इस विद्या का विस्तार अनेक रूपों में हुआ है। यौगिक-साधना के भिन्न-भिन्न प्रकार हयारे देश में प्रचलित रहे हैं और उन्हीं के आधार पर योग-सम्प्रदायों का स्वतन्त्र रूप से विकास भी पर्याप्त मात्रा में होता रहा है। योग-मार्ग की प्रमुख दो धाराएँ मानी जाती हैं, १. चित्तवृत्ति-निरोधमूलक और २. शारीरिक क्रियासम्पादनमूलक। इन दोनों की प्रक्रियाएँ भी दो प्रकार की हैं: १. केवल प्रक्रियारूप तथा २. मन्त्राराधन-पूर्वक प्रक्रियारूप। जब योग-साधक चित्तवृत्ति के निरोध के लिये आन्तरिक और बाह्य शारीरिक क्रियाओं को संयत बनाने का प्रयास करता है, तो वह प्रथमकोटि में आता है। यदि उस क्रिया के साथ-साथ इष्टमन्त्र अथवा तत्तत् स्थानों की अधिष्ठात्री शक्तियों के मन्त्र अथवा बीजमन्त्रों का जप भी करता है, तो वह द्वितीय कोटि में आता है।

योग के अनेक रूप

योगशास्त्र में जिस योग की चर्चा हुई है, वह '**राजयोग**' है। इस योग पद्धति का सर्वाङ्ग विवेचन महर्षि पतञ्जलि ने चार पादों में किया है। इनमें क्रमशः योग और योगाङ्गों का प्रतिपादन करते हुए उससे मिलने वाले लाभों का स्थूल एवं सूक्ष्म विवरण देकर चित्तवृत्तिनिरोध-पूर्वक 'समाधि' प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है। यह योग-विधान यहीं सिमट कर नहीं रहा अपितु इसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विषय में विभिन्न आचार्यों ने विस्तार-पूर्वक चिन्तन-मनन भी प्रस्तुत किया।

योग का दूसरा प्रकार '**हठयोग**' के नाम से चर्चित हुआ। हठयोग के आयामों में कतिपय आङ्गिक-क्रियाओं तथा प्राणवायु-साधना से सम्पूर्ण प्रक्रियाओं का बाहुल्य अपने क्षेत्र का सर्वोत्तम साधक बना। चौरासी आसन और कितने ही उपआसन इसके साक्षी हैं कि "हठयोग की साधना से संयम सधता है, नियम नियत होता है, प्राण-साधना परिष्कृत होती है तथा समाधि-सिद्धि का सहज लाभ मिलता है।" मनोयोग-पूर्वक की गई हठयोग-साधना साधक को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में पूर्णतः क्षम है।

यौगिक-प्रक्रियाओं में '**मन्त्र-योग**' का तीसरा एवं बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्वाभाविक योग के नाम से विख्यात '**महायोग**' के अवस्था-भेदात्मक चार योगों में से एक है। इस योग का मुख्य लक्ष्य 'मन्त्र के आश्रय से जीव और परमात्मा का सम्मेलन है। शब्दात्मक मन्त्र के चैतन्य हो जाने पर उसकी सहायता से जीव क्रमशः ऊर्ध्व गमन करता हुआ परमात्मा के धाम में स्थान प्राप्त कर लेता हैं। वैखरी शब्द से क्रमशः मध्यमावस्था का भेदन कर पश्यन्ती शब्द में प्रवेश ही मन्त्रयोग का मुख्य उद्देश्य है। यह पश्यन्ती शब्द स्वयंप्रकाश चिदानन्दमय है। चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडषी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्टदेव-साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्य का उत्कृष्ट फल है। मन्त्रयोग के प्रकार विशेष अनेक हैं जिनका विचार हम आगे करेंगे।

'**लय-योग**' राजयोग का एक भाग है, ऐसी सर्वसामान्य की मान्यता है। इस योग के प्रवर्तकों का कथन है कि—'यदि भक्ति, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि गुणों का उत्कर्ष स्वतः करना अपेक्षित हो, तो साधक को लय-योग का आश्रय

लेना चाहिये।' श्री शङ्कराचार्य ने अपने '**योगतारावली**' ग्रन्थ में '**लय-योग**' का वर्णन करते हुए कहा है कि—'लययोग' के सवा लाख प्रकार होते हैं। आदिनाथ ने '**हठयोग-प्रदीपिका**' में लययोग के सवा करोड़ प्रकारों का निर्देश किया है और उनमें नादानुसन्धान को मुख्य बतलाया है।

'वासना का संयमन करते हुए उसका क्षय करना और सभी वृत्तियों की सर्वावस्थाओं के साथ उसका आत्मस्वरूप में लय करना 'लय-योग' है।' शरीर के अन्तर्गत नौ चक्रों में लय करना, नादानुसन्धान, प्रकाशानुसन्धान, प्रणव-जप करते हुए उसकी मात्राओं के स्थान पर **मन** का लय करना, वृत्ति—अवस्था का लय, अहम्भाव का लय, कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् सहस्रदल कमल में प्रकृति और पुरुष के द्वैतभाव का लय करके उसके द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के अद्वैतभाव का ज्ञान करना आदि लययोग के प्रकार हैं। इतना ही नहीं; लययोगी ज्ञान की सप्त भूमिकाओं को भी लाँघ सकता है। इसीलिये कहा गया है कि जप की तुलना में ध्यान सौ गुना अच्छा होता है, और ध्यान से सौ गुना फलवान **लय** होता है।

इन चतुर्विध योगों में पूर्वापरता नहीं है, तथापि 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नं' के आधार पर यथेच्छरूप में क्रमोल्लेख किया है। 'शिवसंहिता' में मन्त्रयोग को प्रथम माना है। इसके बाद हठयोग, लययोग तथा राजयोग का क्रम है। प्रस्तुत लेख में हमें मन्त्र-योग की सर्वतोभद्र साधना के सम्बन्ध में ही अधिक विचार करना अभीष्ट है, अतः हम यहाँ 'मन्त्र-योग' की ही विशिष्ट चर्चा करेंगे। मन्त्रयोग के शास्त्रकारों ने सोलह अंग बतलाये हैं :

'१. भक्ति, २. शुद्धि, ३. आसन, ४. पञ्चाङ्ग सेवन, ५. आचार, ६. धारणा, ७. दिव्यदेश सेवन, ८. प्राणक्रिया, ९. मुद्रा, १०. तर्पण, ११. हवन, १२. बलि, १३. याग, १४. जप, १५. ध्यान तथा १६. समाधि'। जिस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कलाएँ सुन्दर और अमृत प्रदायिनी हैं, उसी प्रकार ये अंग भी सिद्धिप्रद हैं। इन अंगों का विस्तृत परिचय भी आवश्यक है।

१. भक्ति—परमात्मा के प्रति समर्पण भाव। **२. शुद्धि**—आन्तरिक एवं बाह्य सर्वविध शुद्धता। **३. आसन**—स्व-स्वसाध्य कर्मानुसार शास्त्रोक्त बैठने की विधि। **४. पञ्चाङ्ग सेवन**—कवच, पटल, पद्धति, सहस्रनाम और स्तोत्र का पाठ तथा इनमें कथित विधियों का पालन। **५. आचार**—सम्प्रदायोक्त आचरणों का अनुसरण। **६. धारणा**—योगशास्त्रीय धारणाओं में निष्ठा। **७. दिव्यदेश-सेवन**—पुण्यतीर्थ, पुण्यपीठ तथा पवित्र प्रदेशों में निवास अथवा यात्रा। **८. प्राणक्रिया**—प्राणायाम। **९. मुद्रा**—देवताओं के समक्ष उनके आयुध आदि की आकृतियों का प्रदर्शन। **१०. तर्पण**—इष्टदेव की प्रसन्नता के लिये उनके नाममन्त्रादि से तर्पण। **११. हवन**—होम। **१२. बलि**—नैवेद्य। **१३. याग**—पूजा। **१४. जप**—मन्त्रजप। **१५. ध्यान**—इष्टदेव की आकृति-स्वरूप का ध्यान तथा **१६. समाधि**—इष्ट के चिन्तन में तल्लीनता।

ये सोलह अंग मन्त्रयोग के बाह्य और आन्तरिक कर्तव्यों का निर्देश करते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक अंग की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रक्रियाएँ हैं, प्रकार हैं तथा स्थूल एवं सूक्ष्म भेद हैं। जब किसी भी मन्त्र का जप करना हो, तो उत्तम गुरु से उसकी दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राप्त मन्त्र का पुरश्चरण करना और मन्त्र के अङ्ग-उपाङ्गों का यथाविधि जप करते हुए उस पुरश्चरण के दशांश क्रम से हवन, तर्पण, मार्जन और अतिथिभोजनादि के विधानों को भी सम्पन्न करना चाहिए।

योग के आठ अङ्गों में क्रमशः 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि' का जो उपदेश है, वह सभी क्रियाओं में **इष्ट-मन्त्र** का योग करते हुए प्रयोग करना भी बतलाता है। तान्त्रिक योग की यही विशेषता है कि वह केवल क्रियाओं पर ही निर्भर न रहकर 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' पर भी अधिक बल देता है। कोई भी क्रिया मन्त्र के सहयोग के बिना सम्पन्न नहीं होती। मन्त्र का अर्थ '**मनन-क्रिया के द्वारा त्राण-शक्ति का उद्बोधन**' माना

गया है। यहाँ मनन-धर्मिता ही उस शक्ति को प्रदान करती है। मनन के लिये मन का नियमन नितान्त अपेक्षित है क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" और "चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्" के अनुसार इसकी चञ्चलता भी दुर्दम्य है। अतः मनन पर ही मन्त्र की सिद्धि निर्भर है। इससे ही चित्तवृत्ति का निरोध होकर आध्यात्मिक साधना के द्वार खुलते हैं तथा आत्म-विकास का पथ-प्रशस्त होता है। इसीलिये कहा गया है कि मन्त्रों के जप से, योग, धारणा, ध्यान, न्यास एवं पूजन से जो सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, वे अकल्पित और चिरकाल सुख देने वाली हैं। अन्त में वे ब्रह्मपद की प्राप्ति में भी सहायता करने वाली हैं। मन्त्रयोग के साधक के लिये जप की प्रक्रियाओं का योग की प्रक्रियाओं के साथ तादात्म्य-स्थापन भी आवश्यक माना गया है। यह तादात्म्य आत्म-शरीर की रचना को मन्त्र वर्णों से समन्वित मानकर उसे वर्णात्मक स्वरूप प्रदान करने से सम्भव होता है। वस्तुतः योग-साधना में प्रवृत्त होने से पहले ही शरीरतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। प्रत्येक जीव का शरीर शुक्र, रक्त, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि और त्वग्-रूप सप्त धातुओं से बना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से युक्त होने के कारण यह पञ्चभूतात्मक भी है। इसी कारण इसमें प्रत्येक भूत के अधिष्ठान के लिये स्वतन्त्र स्थान नियत किये गये हैं। इन्हें यौगिक-भाषा में **'चक्र'** कहते हैं। अतः योगी मूलाधारादि आन्तरिक चक्रों में पञ्चभूतों का ध्यान करते हैं। इनके अतिरिक्त इस पञ्चभूतात्मक शरीर में अन्यत्र भी कुछ चक्र हैं, जैसे ललाटदेश में **'आज्ञाचक्र'** है। इसमें पञ्चतन्मात्र तत्त्व, इन्द्रिय तत्त्व, चित्त और मन का स्थान है। उसके भी ऊपर ब्रह्मरध्र में एक **'शतदल-चक्र'** है जिसमें महत् तत्त्व का स्थान है। इसके ऊपर महाशून्य में विद्यमान **'सहस्रदल-चक्र'** है जहाँ प्रकृति-पुरुष-'कामेश्वरी और कामेश्वर परमात्मा'-विराजमान हैं। योगी पुरुष पृथ्वी तत्त्व से प्रारम्भ करके क्रमशः परमात्मा तक सभी तत्त्वों का, इस भौतिक शरीर में, ध्यान किया करते हैं। इन चक्रों की मन्त्रयोगात्मक साधना में प्रत्येक चक्र के मूल नायक देव, उनकी अधिष्ठात्री देवी तथा अपने इष्टमन्त्र का उनके साथ समन्वय करके जप करने का विधान है। इन चक्रों के सृष्टि, स्थिति और संहार क्रमों का ज्ञान करके कर्मानुसार जप करने से विशिष्ट लाभ होता है।

शास्त्रकारों ने मन्त्रोच्चार के मुखगत पाँच अवयवों को भी पञ्चभूतात्मक बतलाया है। ओठ-पृथ्वी तत्त्वात्मक है, जिह्वा जल तत्त्वात्मक, दाँत अग्नि तत्त्वात्मक, तालु वायु तत्त्वात्मक और कण्ठ आकाश तत्त्वात्मक है। मन्त्रों के अक्षरों का उच्चारण इन्हीं पाँच स्थानों से होता है, अतः उपर्युक्त ज्ञानपूर्वक उच्चरित वर्ण अपने-अपने तत्त्व को प्रबल बनाते हैं तथा तदनुसार ही फल भी देते हैं। शरीर रूपी **ब्रह्माण्ड** के अन्तर्गत तीन ब्रह्माण्ड हैं। शरीर का मध्यम भाग **'स्वब्रह्माण्ड'** है, ऊपर का भाग **'पराब्रह्माण्ड'** है तथा अधोभाग **'अपराब्रह्माण्ड'** है। स्वब्रह्माण्ड का सम्बन्ध विराट् तत्त्व से, पराब्रह्माण्ड का विद्युत् तत्त्व से और अपराब्रह्माण्ड का शून्य तत्त्व से है। स्व में कारण शक्तियाँ, परा में सूक्ष्म शक्तियाँ एवं अपरा में स्थूल शक्तियाँ वास करती हैं। मन्त्रों के जिन अक्षरों अथवा शब्दों से स्व में प्रकम्पन होता है, उनसे शून्य-तत्त्व सम्बन्धित स्थूल शक्तियों का विकास होता है। उदाहरण के लिये **'ऐँ'** के उच्चारण से परा में प्रकम्पन होता है, अतः उसके उच्चारण से सूक्ष्म शक्तियाँ जागृत होती हैं, **'ह्रीँ'** के उच्चारण से स्व में प्रकम्पन होता है, अतः उसके उच्चारण से कारण शक्तियाँ उद्‌बुद्ध होती हैं। 'श्रीँ' के उच्चारण से अपरा में प्रकम्पन होता है, जिससे स्थूल शक्तियाँ प्रबुद्ध होती हैं। ये शक्तियाँ जब पूर्णरूप से जागृत हो जाती हैं, तो ये साधक के भावानुसार एक विशेष रूप धारण कर उसके सम्मुख प्रकट होकर यथेष्ट फल देती हैं।

'शब्दयोग और **वाग्योग'** भी मन्त्र साधना के ही प्रकारों में आते हैं। शैवागमों के अन्तर्गत **'व्याकरणागम'** में इस योग की साधना का परिचय मिलता है। इसमें व्याकृत शब्द का वैखरी दशा से मध्यमा में उतर कर पश्यन्ती में प्रवेश ही योग-साधना का मुख्य लक्ष्य है। पश्यन्ती दशा से परा-दशा में अव्याकृत पद में गति और स्थिति स्वाभाविक नियमानुसार स्वतः ही होती है। वे किसी साधना के आन्तरिक लक्ष्य नहीं होते। किन्तु वैखरी के स्थूलेन्द्रिय ग्राह्य शब्द

विशेष में मिश्रावस्था के कारण असंख्य आगन्तुक मल रहते हैं जिनका शोधन गुरुदर्शित मार्ग से होता है और वह संस्कृत शब्द शक्तिरूप से प्रकाशित होकर कामधेनु बन जाता है। उसकी यह कामधेनु रूपता समस्त कामनाओं की पूर्ति करती है। शब्द-मर्म के ज्ञाता वसिष्ठादि महर्षि इसी **'शब्दयोग'** की साधना से अलौकिक शक्ति-सम्पन्न थे। इसकी प्रक्रिया में मन्त्र वर्ण अथवा बीज मन्त्रों के निरन्तर आवर्तन से वैखरी शब्द के सभी मल धुल जाते हैं, तब इडा, पिंगला का स्तंभन होता है और सुषुम्ना का मार्ग कुछ उन्मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् प्राणशक्ति की सहायता से शोधित शब्द शक्ति ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्मा और मध्यमा अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहतनाद होता है। स्थूल शब्द इसके विराट् प्रवाह में डूबकर उससे पूर्ण होकर चैतन्य को प्राप्त करता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष है। इस अवस्था में साधक जीवमात्र की चित्त वृत्ति को अपरोक्षभाव से शब्द रूप में जान लेता है। देश-काल का व्यवधान इसे रोकने में समर्थ नहीं होता। आगम शास्त्रों में इसी को 'पश्यन्ती-वाक्' कहा है। ये सभी क्रियाएँ मन्त्र योग की आन्तरिक क्रियाओं में आती हैं।

बाह्य-क्रियाओं में भी मन्त्र के सहयोग से हृत्-अवस्थित इष्टदेव की प्रतिमा में नासारन्ध्र से प्रश्वासपूर्वक अञ्जलिगत पुष्पों के समर्पण के साथ चैतन्य मूर्ति का आवाहन होता है। तदनन्तर विभिन्न न्यासों के द्वारा देवरूप बने हुए शरीर से देवार्चन किया जाता है। पूजा के उपकरणों में पात्रासादन की विधि का विशेष महत्त्व है। ध्यान-पूर्वक आवाहित देवता का संस्थापन, सन्निधापन, सन्निरोधन, सम्मुखीकरण तथा अवगुण्ठनसहित वन्दन, धेनु, योनि, हृदयादि षडङ्ग और आयुध मुद्राओं का दर्शन तो योग-मूलक ही हैं। इष्ट देवता की पूजा सर्वप्रथम चतुःषष्टि उपचारों की कल्पना एवं मङ्गल-नीराजन पूर्वक आवरण-देवता अथवा परिवार-देवताओं की क्रमिक अर्चना से सम्पन्न होती है। इन पूजा विधानों में प्रत्येक के स्थान, स्वरूप, गुण, कर्मादि का ध्यान रखते हुए उनके बीज मन्त्रों और मन्त्रों के साथ पूजा होने से मन की तल्लीनता इतनी समुन्नत हो जाती है कि यह किसी भी योग-साधना से कम नहीं कही जा सकती।

मन्त्रयोग

शाक्त-सम्प्रदाय में मन्त्र एवं यन्त्र का अत्यन्त महत्त्व है। प्रत्येक मन्त्र के बीजाक्षरों में उन-उन देवताओं के नाम, रूप, गुण और कर्म का बोध उपासना के क्रमानुसार होता है। बिन्दु, त्रिकोण, पञ्चकोण, वृत्त आदि एक अथवा अनेक आकृतियों में लिखित होने पर वह देवता की आकृति का बोधक 'यन्त्र' कहलाता है। देवता के सम्पूर्ण स्वरूप का उस बिन्दु-कोणात्मक आकृति में नियन्त्रण होने से भी उसे यन्त्र कहा जाता है। 'यन्त्रो देवालयः प्रोक्तः' यह भी प्रसिद्ध ही है। यन्त्र और देवता में अभेद-ज्ञान ही **'यन्त्रयोग'** है। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार क्रमशः साधना करते हुए यन्त्र की पहले बाह्य आराधना, तदनन्तर देव स्वरूप की शरीर में भावना और अन्त में यन्त्र की शरीर में भावना करते हुए ऐक्य प्राप्त कर ब्रह्मभाव में पहुँचना 'यन्त्रयोग' का लक्ष्य है। प्रतीक-विद्या की प्राचीन परम्परा में यन्त्र की सृष्टि परमात्मा की सिसृक्षा के द्वारा हुई है। "मैं अकेला हूँ, बहुत बनूँ", इस सर्जन की इच्छा होते ही पूर्ण-बिन्दु से लघु बिन्दुओं का उच्छलन होता है जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में त्रिबिन्दु रूप होकर एक-दूसरे के प्रति आकर्षण के कारण त्रिकोणाकार में परिणत हो जाते हैं। यह त्रिकोण ही समस्त यन्त्रों की आकृतियों में अन्तर्निहित रहता है। इसके मध्य बिन्दु में इष्टदेव स्वशक्ति-सहित विराजमान रहते हैं।

ऐसे यन्त्रों की साधना में भी पूर्वोक्त परिवार देवताओं की स्थिति होने से उनकी साङ्गोपाङ्ग अर्चना की जाती है। यह यौगिक-पद्धति की ही परिपोषक है। यह यन्त्रयोग मन्त्रयोग का ही एक रूप है जो आलम्बन का साधन बनकर साधक की सहायता करता है। यन्त्र-योग की यह साधना ही सर्वतोभद्र साधना कहलाती है।

●